प्राचीन जैन इतिहास संग्रह

(भाग १० वां)

[सुविहित-चैत्यवासी और क्रियोद्धारक]

— ज्ञानसुन्दर —

Price Four Annas.

ऐसा सुवर्ण अवसर हाथों से न जाने दीजिये !

मूर्त्तिपूजा का प्राचीन इतिहास

और

श्रीमान् लौंकाशाह

ये ग्रन्थ क्या है एक प्राचीन ऐतिहासिक एवं स्व-परमत्त के शास्त्रों के सैकड़ों प्रमाणों का एक खास खजाना ही खोल दिया है तथा खोद काम करवाने से भूगर्भ से मिली हुई हजारों वर्ष पूर्व की प्राचीन मूर्तियाँ जो तीर्थङ्करों की तथा पूर्वाचार्यों (हाथ में मुँहपत्ती वाले) के बहुत चित्रों से तो मानो एक अजायबघर ही तैयार कर दिया है। मूर्तिपूजा मुँहपत्ती और लौंकाशाह के विषय की चर्चा तथा स्वामी अमोलखऋषिजी कृत ३२ सूत्रों के हिन्दी अनुवाद में उड़ाये हुए मूल सूत्रों के पाठ और स्वामी घासीलालजी की बनाई हुई उपासक दशांग सूत्र की टीका में बनाये हुए नये पाठों के लिए १०० ग्रन्थों और ४५ या ३२ सूत्रों को पास में रखने की जरूरत नहीं है, यह एक ही पुस्तक सबका काम दे सकती है। इस पुस्तक को इस ढंग से लिखी है कि साधारण पढ़ा हुआ मनुष्य भी उपरोक्त बातों का समाधान आसानी से कर सकता है। पृष्ट सं० १०००, चित्र सं० ५२ पक्के कपड़े की दो जिल्दें होने पर भी प्रचारार्थ मूल्य मात्र रु० ५)। ओर्डर शीघ्र भेज कर एक प्रति कब्जे कर लीजिये वरना यह बाद में पच्चीस रुपयों में भी मिलना मुश्किल है।

पता—शाह नवलमलजी गणेशमलजी
कटरा बाजार, जोधपुर।

श्री जैन इतिहास ज्ञान भानु किरण नं० १०

श्रीरत्नप्रभसूरि सद्गुरुभ्योनमोनमः

सुविहिताचार्य-चैत्यवासी और क्रिया उद्धारक

लेखक

इतिहास प्रेमी मुनिश्री ज्ञानसुन्दरजी महाराज

प्रकाशक

श्री रत्नप्रभाकर ज्ञान पुष्पमाला

मु० फलोदी (मारवाड़)

ओसवाल संवत् २३६४

वीर सं० २४६३ [प्रति ५००] वि० सं० १९९४

ईसवी सन् १९३७

मूल्य-पठन पाठन और सार ग्रहण

श्री रत्नप्रभाकर ज्ञानपुष्पमाला की तमाम पुस्तकें हमारे यहाँ मिलती हैं तथा हाल में मुद्रित हुआ:—

१—मूर्त्तिपूजा का प्राचीन इतिहास और श्रीमान् लौंकाशाह नाम का सचित्र और दलदार बड़ी शोध खोज से तैयार करवाया हुआ ग्रन्थ रत्न मूल्य मात्र रु० ५) ।

२—जैन जाति महोदय सचित्र प्रथम खण्ड मूल्य रु० ४) इसमें जैन धर्म और जैन जातियों का विस्तृत वर्णन है ।

पता—शाह नवलमलजी गणेशमलजी
कटरा बाजार, जोधपुर (राजपूताना)

॥ वीतरागायनमः ॥

सुविहिताचार्य-चैत्यवासी और क्रिया उद्धारक

अन्तिम भगवान् महावीर के पश्चात् गणधर सौधर्माचार्य, जम्बू आचार्य, प्रभवाचार्य, सय्यंभवाचार्य, संभूति विजय, यशोभद्र और भद्रबाहु आचार्य तक तो सब के सब सुविहिताचार्य हुए और इनका विहार-क्षेत्र प्रायः पूर्व भारत ही रहा। तथा आचार्य केशीश्रमण जो प्रभु पार्श्वनाथ के संतानियों के नाम से प्रसिद्ध थे, उनके संतान आचार्य स्वयंप्रभसूरि, रत्नप्रभसूरि, यक्षदेवसूरि, कक्सूरि, देवगुप्तसूरि, सिद्धसूरि आदि सुविहिताचार्य थे। इनका विहार क्षेत्र पश्चिम भारत एवं राजपूताना तथा विशेष कर मरुधर आदि जंगल प्रदेश था, और इन्होंने उक्त प्रदेशों के पतित क्षत्रियादिकों की शुद्धि कर उन्हें नये जैन बनाया, जिससे कि जैनियों की संख्या करोड़ों तक पहुँच गई।

पूर्वभारत में आचार्य भद्रबाहु के समय महा भयंकर दुष्काल पड़ा, वह भी निरन्तर बारह वर्ष का। अतः आचार्य भद्रबाहु ने जब वहाँ साधुओं का निर्वाह होता नहीं देखा तो, अपने ५०० शिष्यों (साधुओं) को साथ लेकर नैपाल आदि प्रान्तों में विहार कर दिया। और शेष रहे हुए साधुओं ने ज्यों

त्यों करके उस अकाल-अटवी का अतिक्रमण किया। जब अकाल के अंत में पुनः सुकाल हुआ तब श्री संघ ने आचार्य भद्र-बाहु को आमंत्रण भेज बुलवाया और पाटलीपुर नगर में एक सभा की, वहाँ दुष्काल के भीषण प्रभाव से जैन श्रमण एवं जैनागमों की जो कुछ श्रृंखला अस्त व्यस्त हो गई थी, उसको फिर से व्यवस्थित बनाया। आचार्य भद्रबाहु ने कई अंगों पर निर्युक्तियों की रचना की, तथा बृहत्कल्प सूत्र, व्यवहारसूत्र और दशा श्रुतस्कंध सूत्र एवं तीन छेद ग्रथों का भी निर्माण किया। उन छेद सूत्रों में साधुओं के आचार विचार एवं व्यवहार तथा विशेष साधुओं के ठहरने के लिए मकान और मकान देने वाले दाताओं के निमित्त नियम बनाए। इससे पाया जाता है कि दुष्काल के पूर्व जैन श्रमण प्रायः जंगलों में, या उपवनों में ही ठहरते थे। पर जब इतने सुदीर्घ दुष्काल समय में साधुओं का निर्वाह जंगलों में होता न देखा तो शायद् श्रीसंघ ने यह प्रार्थना की होगी कि "इस भयंकर समय में अब जंगलों में साधुओं का निर्वाह होना मुश्किल है, क्योंकि भिक्षा-चर्या के कारण जंगलों से आकार भिक्षा करना या ले जाने में आप को कठिनताओं का सामना करना पड़ेगा। अतः आप नगर में पधार जावें, इत्यादि"। यह बात संभव भी है कि उस आपत्ति के समय में श्रमण संघ ने भी श्रीसंघ की यथोचित विनती को स्वीकार कर नगर में आकर गृहस्थों के मकानों में रहना शुरूकर लिया हो, इसी कारण आचार्य भद्रबाहु ने इस विषय के विशेष नियम बनाए होंगे। आचार्य के बनाए हुए नियमों में कई एक ऐसे नियम भी हैं कि जिस मकान में गृहस्थ का धन, धान्य,

गुड़, घृत, जल आदि के पात्र इधर उधर बिखरे पड़े हों वहाँ एक दो रात्रि से अधिक रहना साधु को नहीं कल्पे। यदि साधारण प्रबंध किया हुआ हो तो एक मास और विशेष प्रबंध किया हुआ हो तो चार मास ठहरना कल्पता है; और इसी प्रकार मकान के दाता के लिए भी कई नियम बनाए कि किसी दुकान में यदि मकानदाता का भाग हो तो वहाँ से कोई वस्तु नहीं लेना, तथा मकानदाता साथ चल कर दूसरों के घर से कोई पदार्थ दिलावे तो उसे भी नहीं लेना, इत्यादि। इस लेख से ज्ञात होता है कि दुष्काल के पूर्व नगरों में साधुओं के रहने के लिए धर्मशाला व उपाश्रयों का अभाव ही था और साधुओं के लिए बनी हुई धर्मशालाओं एवं उपाश्रयों को आधा कर्मी समझ कर वे निग्रन्थ उसमें ठहर भी नहीं सकते थे। तथा श्रावकों के धर्म करने के लिए अपने-अपने मकानों के एक बिभाग में पौषधशालाएँ भी रहती थीं। यदि कारणवशात् कोई साधु नगर में आ भी जाता तो गृहस्थों के घरों में ही ठहर, कारण मिटने पर पुनः जंगलों में चला जाता था। यही कारण था कि जंगलों में रहने वाले महात्मा बिल्कुल निःस्पृही होते थे और उन्हें वस्त्र पात्रों की प्रायः आवश्यकता हो नहीं रहती थी और यदि कोई साधु ये वस्तुएँ रखता तो भी नितान्त जीर्णशीर्ण एवं परिमित ही जो कि नगण्य-सी समझी जाती थी जैसा कि कल्प सूत्रादि ग्रन्थों में कहा है। पर जब से जैन श्रमणों ने नगरों में रहना शुरू किया और नगरों में उपाश्रय बनने लगे और उन्हें आवश्यक वस्त्र पात्रों की भी आवश्यकता पड़ी, क्योंकि एक तो गृहस्थों के सहवास में रहना और दूसरे अनेकाऽनेक वस्तुओं

कासमीपता से सुप्राप्य हो जाना, अतः नागरिक संसर्ग भय से लज्जा निवारणार्थ विशेष वस्त्रों का रखना आवश्यक भी प्रतीत हुआ हो और कुछ उस नगर संपर्क से भी साधुओं की निःस्पृह आत्माएँ प्रलोभनों में फँस निर्बल हो गई हों। अन्यथा श्री आचारांग सूत्र द्वितीय श्रुत स्कंध पात्र ऐषणा नामकाध्ययन में जैन-निर्ग्रंथों को पहिले तो अचेलक (निर्वस्त्र) रहना ही लिखा है पर बाद में एक दो तीन वस्त्र पात्रादि रखने की छूट दे दी है। शायद इसका आशय यह हो कि वस्त्र पात्र रखने वाले रक्खें और नहीं रखने वाले नहीं रक्खें, किन्तु सूत्रकार ने इस विषय में स्थापन उत्थापन करने का कोई विशेष झगड़ा नहीं रक्खा। वस्त्र पात्रादिकों का विशेष परिमाण में रखना तो केवल नगरों में आने के बाद ही हुआ है क्योंकि वहाँ इन पात्रादिकों की तथा सुरक्षित स्थान एवं दोनों की सप्राप्ति सहज थी, और इसी कारण से आचार्य भद्रबाहु को इस विषय के विशेष नियमों की प्रायः नयी सृष्टि रचनी पड़ी हो।

आचार्य भद्रबाहु के समय यद्यपि द्वादश वर्षीय दुष्काल पड़ा था और इससे अनेक निर्ग्रंथों ने वसति-वास भी किया परन्तु उस समय सुविहितों का सर्वतोभावेन अभाव नहीं था; अपितु भद्रबाहु के बाद स्थूलिभद्र भी चौदह पूर्वधर थे और स्थूलिभद्र के अनन्तर उनके पट्टधर दो आचार्य हुए (१) आर्य महागिरि (२) आर्य सुहस्तीसूरि—जिनमें आर्य महागिरि तो जंगलों में रह कर जिनकल्पी की तुलना कर रहे थे, अर्थात् वस्त्र पात्र रहित हो जंगलों में कठिन तपश्चर्या करते थे और आर्य सुहस्तीसूरि उज्जैन के राजा संप्रति को जैन बना उसकी सहायता

से भारत और भारत के बाहिर जैन धर्म का प्रचार करने में संलग्न थे। यह भी कहा जाता है कि सम्राट् संप्रति ने १२५००० नये जैन मंदिर बनाये थे। इस हालत में उन्होंने जैन श्रमणों के रहने के लिये उपाश्रय भी अवश्य बनाए होंगे और वे भी मंदिरों के पास या मंदिरों के अन्तर्गत ही एक विभाग में, जिससे कि सर्व साधारण को देव गुरु की उपासना एवं वन्दन, पूजन व्याख्यान श्रवण आदि की सुविधा रहे।

आगे चल कर वे उपाश्रय ही चैत्यवासियों के स्थानक बन गए हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। कारण एक तो भद्रबाहु के समय अकाल का बुरा असर था ही, दूसरा सुहस्ती-सूरि के समय भी दुष्काल था, तीसरा आगे चल कर आर्य वज्रसूरि के समय भी एक भयङ्कर दुर्भिक्ष पड़ा था जिनकी भीषण मार ने दुनियां में त्राहि-त्राहि मचा दी थी, अर्थात् भद्र-बाहु के समय बनवासी साधु वसतिवासी हुए। आर्य सुहुस्ती-सूरि के समय जैन निग्रथों ने मन्दिर के एक विभाग के उपाश्रय का आश्रय लिया, बाद वज्रस्वामी के समय के पूर्व ही वे ठीक चैत्यवास के रूप में परिणत हो गए।

इस विषय का एक प्रमाण 'प्राभाविक चरित्र' में उपलब्ध होता है कि कोरंटपुर के महावीर मन्दिर❀ में एक देवचंद्रोपाध्याय

❀ "अस्ति सप्तशती देशो, निवेशो धर्म कर्मणाम्।
यद्दानेशभिया भेजु, स्ते राज शरणं गजाः ॥ ४ ॥
तत्र कोरण्टकं नाम, पुर मस्त्युन्नता श्रयम्।
द्विजिह्वविमुखा यत्र, विनता नन्दना जनाः ॥ ५ ॥
तत्राऽस्ति श्री महावीर चैत्यं चैत्यं दधद् दृढम्।

रहता था और वह उस मन्दिर की सब व्यवस्था भी करता था। जब वहां पर आचार्य सर्वदेवसूरि आये तो देवचन्द्रोपाध्याय को हितोपदेश दे कर उसका चैत्यवास छुड़वा कर उग्र विहारी बनाया इत्यादि। इसका समय विक्रम की दूसरी शताब्दी का है जो वज्रस्वामी के आसपास का समय कहा जाता है। इस प्रमाण से यह पाया जाता है कि विक्रम की दूसरी शताब्दी पूर्व चैत्यवास शुरू हो गया था। परन्तु उस समय भी सुविहित विद्यमान थे और हितोपदेश दे कर चैत्यवास छुड़वाते थे। इससे पाया जाता है कि उस समय कई एक चैत्यवास कर बैठे थे, और कई एक चैत्यवास अर्थात् चैत्य की व्यवस्था करने वाले साधुओं को बुरा भी समझते थे, जैसे—सर्वदेवसूरि और देवचन्द्रोपाध्याय।

कैलास शैलवद्भाति, सर्वाश्रय तयाऽनया ॥ ६ ॥
उपाध्यायोऽस्ति तत्र श्रीदेवचन्द्र इति श्रुतः।
विद्वद्वृन्द शिरोरत्न, तमस्ततिहरो जनैः ॥ ७ ॥
आरण्यक तपस्यायां, नमस्यायां जगत्यपि।
सक्तः शक्तान्त रंगाऽरि-विजये भव तीर भूः ॥ ८ ॥
सर्वदेवप्रभु, सर्वदेव सत्ध्यान सिद्धिभृत्।
सिद्ध क्षेत्रे यियासुः श्री वाराणस्याः समागमत् ॥९॥
बहुश्रुत परिवारो, विश्रान्त स्तत्र वासरान्।
कांश्चित प्रबोध्य तान्, चैत्यव्यवहार ममोचयत् ॥१०॥
स पारमार्थिकं तीव्रं, धत्ते द्वादशधा तपः।
उपाध्यय स्ततः सूरि, पदे पूज्येः प्रतिष्ठितः ॥ ११ ॥
श्री देवसूरि रित्याख्या, तस्य ख्यांति ययौ किल।
श्रूयन्तेऽद्यापि वृद्धेभ्यो, वृद्धा स्ते देव सूरयः ॥१२॥

"प्रभाविक चरित्र मानदेव प्रबन्ध पृष्ठ १९१"

फिर भी उस समय की एक यह बड़ी भारी विशेषता थी कि क्या सुविहित और क्या चैत्यवासी जैनागमों पर सब की अटूट श्रद्धा थी। जैनागमों में केवल एक मात्रा भी न्यूनाऽधिक कहने में अर्थात् उत्सूत्र बोलने में वे वज्रपाप और अनंत संसार बढ़ने का बड़ा भारी भय रखते थे। चैत्यवासियों के मध्यकाल में रची हुई चूर्णियों एवं भाष्यों को सब मानते थे। क्रिया में सामान्य विशेषता होने पर भी जिन-वचन स्थापन उत्थापन का कोई भी झगड़ा उस समय पाया नहीं जाता है। आचार्य हरिभद्र सूरि अपने संबोध प्रकरणादि ❀ ग्रन्थों में चैत्यवासियों की अनुचित प्रवृत्ति की घोषणा कर चुके थे, पर ऐसा कहीं नहीं लिखा कि चैत्यवासी अपनी प्रवृत्ति की पुष्टि के लिये अमुक ग्रन्थ बनाते या बताते थे। आचार्य जिनेश्वरसूरि के गुरू आचार्य वर्धमानसूरि ८४ चैत्यों के स्वामी † होने पर भी आपकी कराई हुई विमला-

---

❀ "चेइय मंडइ वासा। पुप्फरंभाइ च्चिव वासितं।
देवइ दव्व भोगो। जिणहर सालाए कारणं च॥
वत्थाइ विविह वण्णइ। अइसिय सद्धइ धुव वासाई।
पहिरज्जइ जत्थ गेण। तं गच्छ मूल गुण मुक्कं॥
संनिह मह कम्मं। जल फल कुसुमाइ सव कचित।
निच्च दु तिवार भोयण। विगइ लवगांई तंबोलं।"
"सबोध प्रकरण"

† तत्राऽसीत्प्रशम श्रीभिर्वर्द्धमान गुणोदधि।
श्री वर्द्धमान इत्याख्य सूरि संसार पार भूः॥
चतुर्भिरधिकाशीति श्चैत्यानां येन तत्यजे।
सिद्धान्ताभ्यासतः सत्य तत्वं विज्ञाय संसृते॥
—प्रभावक चरित्र

शाह निर्मित आबू के मंदिरों की प्रतिष्ठा को सब लोग प्रामाणिक मान वन्दन करते थे। आचार्य अभयदेवसूरि ने अपनी टीका द्रोणाचार्य ‡ जैसे चैत्यवासियों के नायक का सन्मान कर उनसे संशोधित करवाई। ये सब उस समय के दोनों पक्षों की वर्णनीय एकता के उज्ज्वल उदाहरण हैं।

हाँ, बारहवीं शताब्दी में एक जिनवल्लभसूरि नामक आचार्य हुए। वे पूर्व चैत्यवासी थे और चैत्यवासियों से निकल कर आचार्य अभयदेवसूरि के पास पुनः दीक्षित हुए। आपने चैत्यवासियों के विरोध में एक "संघपट्टक" नामक ग्रंथ बनाया, पर वह था आपकी प्रकृति का प्रतिबिम्ब। यदि ऐसा नहीं होता तो आपके गुरू आचार्य अभयदेवसूरि ने अपनी टीका को जिन चैत्यवासी आचार्यों से संशोधित करा उनका सत्कार किया था, आप उनकी ही जिन प्रतिमा को मांस शकल * की उपमा नहीं देते और उन चैत्यवासियों के सब कर्त्तव्यों को सावद्य नहीं बतलाते। खैर! इतना होने पर भी स्वयं आपने चित्तौड़ के किले में साधारण श्रावक की द्रव्य सहायता से बनवाये हुए विधि

---

‡ श्री निर्वृताख्य कुल सन्नद पद्म कल्पः।
श्री द्रोणसूरिर नवद्य यशः परागः॥ ९॥
शोधितवान् वृतिमिमां युक्तो विदुषां महा समुहेन।
शास्त्रार्थ निष्क निकषण कष पट्टक कल्प बुद्धीनम्॥१०॥

—अभयदेवसूरि कृत भगवती सूत्र टीका.

* "आकृष्टुं मुग्धमीनान् वांडश पिशित वाद्बिंवमादर्श्य जैनं"
'संघपट्ट श्लोक २१'

चैत्य के द्वार पर पत्थरों में अपने "संघ पट्टक" नामक ग्रंथ को आदेश देकर एवं खड़े रह कर खुदवाया। क्या यह सावद्य कर्तव्य नहीं था? क्या इसको चैत्यवासियों का रूपान्तर नहीं कहा जा सकता है?

आचार्य जिनवल्लभसूरि ने चैत्यवासियों के विरोध में "संघपट्टक" ग्रंथ बनाया उसके प्रत्युत्तर में चैत्यवासियों ने कुछ कहा या नहीं? इसके लिये तो आज कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। पर जिनवल्लभसूरि ने चित्तौड़ के किले में रह कर भगवान महावीर स्वामी के पांच कल्याणक के बदले छः कल्याणक की प्ररूपणा की, इसके लिये चैत्यवासियों ने खूब ही आन्दोलन उठाया। यहां तक कि जिनवल्लभसूरि को निन्हवों की कोटि में रख उत्सूत्र प्ररूपक घोषित कर दिया। क्योंकि इनके पूर्व किसी ने भी भगवान् महावीर के छः कल्याणक नहीं माने थे। जैनागमों के अतिरिक्त आचार्य हरिभद्रसूरि ने अपने "पंचासक" नामक ग्रंथ में वर्तमान सब तीर्थङ्करों के कल्याणक तिथीयों का उल्लेख करते हुए भगवान महावीर के भी पांच ही कल्याणक* और उनकी तिथी बतलाई है। और उस ग्रंथ की टीका करते हुए आचार्य श्री अभयदेवसूरि जो जिनवल्लभसूरि के गुरू थे, उन्होंने भी भगवान महावीर के पांच कल्याणक की पांच तीथियां पर टीका करते हुए पांच ही कल्याणक माने हैं। इनके सिवाय भी जिनवल्लभसूरि ने कई न्यूनाधिक क्रियाएं स्थापित की थीं और उस समय इन बातों का तीव्र विरोध भी हुआ था और आज

* देखो सटीक पंचाशक ग्रन्थ।

तक भी वह विरोध विद्यमान है। किन्तु प्रसङ्गोपात्त में इतना ही कह कर अब चैत्यवासियों के विषय में मैंने जो कुछ अभ्यास किया है, उसमें से सार रूप पाठकों की जानकारी के लिए यहां लिख देता हूँ।

विक्रम की पहिली शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी तक का समय चैत्यवासी युग कहा जाता है। इस बीच में कई एक क्रियोद्धारक भी हुए थे पर प्रबलता चैत्यवासियों की ही रही।

"चैत्यवासी साधु—चैत्य (मन्दिर) में रहने वाले साधु" यदि चैत्यवासी साधु का इतना ही अर्थ होता हो तो यह उतना बुरा नहीं है जिससे कि हम घृणा करें। क्योंकि खास तीर्थङ्करो के पास भी साधु रहते थे, और वहाँ आहार पानी करना आदि सब क्रियाएं करते थे। इतना ही क्यों पर श्रावकों के घरों में भी तीर्थङ्करों की मूर्त्तियाँ रहती थीं और आज भी हैं। साधुओं के उपाश्रयों में भी जैन मूर्त्तियाँ थीं और इस समय भी कई एक उपाश्रयों में हैं। प्राचीन ग्रन्थों एवं चरित्रों* से भी पता चलता है कि साधु साध्वियों के उपाश्रयों में मूर्त्तियाँ थीं, इस हालत में यदि जैन साधु मन्दिर के एक विभाग में ठहरते हों तो क्या हानि है? इससे तो उल्टा लाभ है जैसे कि मन्दिरों की रक्षा, गृहस्थों के भावों की वृद्धि तथा मन्दिर उपाश्रय पास २ होने से देव गुरु का वन्दन पूजन और व्याख्यान श्रवणादि में गृहस्थों को भी सुविधा रहती है। इस पर भी हमारे चिरकाल से संस्कार

---

*आचार्य हरिभद्रसूरि कृत समरादित्य कथामें लिखा है कि साध्वियों के उपाश्रय में मूर्तियां थीं।

हो ऐसे पड़े हुए हैं कि हम स्वतः इनके आगे अवनत हो जाते हैं। फिर भी यदि कोई हठ से इस बात को न मानें तो बात दूसरी है।

मेरे खयाल से तो साधु चैत्य में रहने से ही चैत्यवासियों के प्रति जैन-समाज की इतनी उदासीनता नहीं हुई होंगी अपितु इसमें और भी अनेक खराबियें होंगी। किन्तु इसके तात्विक निर्णय के लिए हमारे पास फिलहाल कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है जिससे कि हम ठीक निर्णय कर सकें। चैत्यवासियों ने मन्दिर में रहने के अलावा जैनागमों के विरुद्ध क्या-क्या कार्य किये थे ? जैसे की चैत्यवासियों से अलग हो कर नामधारी क्रिया उद्धारकों ने किये†।

आज हम लोग जिन चैत्यवासियों की अवहेलना एवं निन्दा कर रहे हैं वह केवल एक तरफी ही है जो कि चैत्यवासियों के प्रतिपक्षी नामधारी क्रियोद्धारकों के निर्मित ग्रन्थों के आधार पर ही करते हैं। पर खुद चैत्यवासियों की ओर से अन्य विषयों के अनेक ग्रन्थों के मिलने पर भी इस विषय का कोई ऐसा ग्रंथ नहीं मिलता है कि चैत्यवासी कौन थे ? और उन्होंने ऐसा कौनसा कार्य जैनागमों के विरुद्ध किया कि जिसकी हम निंदा करें ? चैत्यवासियों के खिलाफ लोगों ने चैत्यवासियों की क्रिया-

---

†किसी ने भगवान् महावीर के पांच कल्याणक के बदले छः कल्याणक की प्ररूपणा की, किसी ने स्त्रियों को पूजा करना निषेध किया, किसी ने श्रावकों को चरवळा मुँहपत्ती रखना निषेध किया, किसी ने द्रव्य पूजा में पाप बतलाया इत्यादि ।

शिथिलता बताई है वह भी वास्तव में कहाँ तक ठीक है ? और उसमें अतिशयोक्ति का भाग कितना है ? इस विषय में हम जब तक दोनों ओर के ग्रंथों को भली भांति न पढ़ लें तब तक कोई ठीक निर्णय नहीं कर सकते ।

चैत्यवास के समय का इतिहास देखने से इतना पता तो सहज ही में मिल सकता है कि जैन धर्म का जितना गौरव, मान, प्रतिष्ठा और उसके प्रचार में सच्चे हृदय की लगन चैत्यवासियों में थी उतनी शायद ही किसी अन्य क्रिया उद्धारक वर्ग में रही हो तथा चैत्यवासियों के समय में जनता की जितनी श्रद्धा धर्म पर थी उतनी बाद में नहीं पाई जाती है । जैन समाज का जैसा अभ्युदय चैत्यवासियों के समय था वैसा बाद में कभी नहीं हुआ । अतएव हमारी निष्पक्षपात राय में तो चैत्यवास का समय जैनों की उत्कृष्ट उन्नति का ही समय था यह कहना कोई अत्युक्ति नहीं है ।

चैत्यवासी लोग यदि राज वैभव जैसे ठाठ-पाट से रहते हों अथवा क्रिया में अनेक आपत्तियों के कारण शैथिल्य आ गया हो तो बात दूसरी है । फिर भी यह तो सत्य ही है कि आज उनकी व्यर्थ भर-पेट निन्दा करने वाले कलियुगी जीवों से तो वे हजार दर्जे ही नहीं अपितु लाख दर्जे अच्छे थे क्योंकि:—

१—चैत्यवासी मन्दिर के एक विभाग में रहते थे, और आज के कई नामधारी क्रिया-पात्र हजारों लाखों रुपयों की लागत के आलीशान मकानों में स्वतन्त्र रूप से रहते हैं । ऐसे मकान बिचारे गृहस्थों को तो सैकड़ों रुपये किराया के खर्च करने पर भी हाथ नहीं लगते हैं ।

२—चैत्यवासी लोग शायद वस्त्र पात्रादिकों का संग्रह करते होंगे, पर वे थे उस जमाने की खादी वगैरह के। किन्तु आजकलके कई महात्माओं (।) के भी इनकी कमी नहीं है अपितु उनसे विशेष ही हैं, क्योंकि एक २ पदवी में सौ २ कम्बलें तथा चादरें आती हैं वे भी महान् हिंसा से बनी हुई बहुमूल्य वाली।

३—चैत्यवासी लोग शायद द्रव्य रखते या रखाते होंगे? परन्तु आज के कई नामधारी क्रिया पात्रों के अधिकार में द्रव्य की कमी नहीं है। किसी के ज्ञानखाता, किसी के उपधान उजमणा, किसी के दीक्षा फंड, किसी के विद्यालयों की मालको में द्रव्य रहता है और वह द्रव्य उन अधिपत्यों के आदेशानुसार ही व्यय होता है। इन दोनों में इतना अन्तर अवश्य है कि चैत्यवासियों का एकत्र किया हुआ द्रव्य जैन शासन के काम आता था किन्तु आजकल के महापुरुषों (।) का द्रव्य तो शायद सटोरियों, धूर्त्तों एवं मशकरों के काम में ही आता है, और कई एकों के द्रव्य का तो बैंकें देवाला फूंक चुकी हैं।

४—चैत्यवासी लोग शायद सावद्य कार्य भी करते कराते होंगे, पर आज के सूरीश्वर (।) भी सावद्य कार्यों के आदेशोपदेश से बच नहीं सके हैं। अपितु आजके सूरिश्वर (।) तो उनसे भी दो कदम आगे ही बढ़े हुऐ हैं।

५—चैत्यवासी तीर्थङ्करों के सिवाय किसी भी सामान्य व्यक्ति की मूर्ति नहीं बनाते थे पर आज तो पतितों की पादुकाएं और मूर्तियों के नम्बर खूब ही बढ़े हुए हैं। इतना ही क्यों पर समाज को भारभूत व्यभिचारी एवं अपठित शिथिलाचारियों की

भी मूर्तियाँ और पादुकाएँ बननी प्रारम्भ हो गई हैं। इस कार्य में अब सध्वियां भी पीछे नहीं रही हैं।

६—चैत्यवासियों में ऐसे वैसे को पदवी नहीं दी जाती थी, पर आज तो चाहे सदाचारी हो या दुराचारी, ।पठित हो या अपठित, । योग्य हो या अयोग्य सभी के लिये पदवियों का का बाजार खुला हुआ है। इतना ही क्यों पर जो व्यभिचार के कीड़े और इन्द्रियों के गुलाम बने हुये हैं, वे भी सूरीश्वर बन बैठे हैं।

७—जिन चैत्यवासियों की हम निन्दा करते हैं तो वे चैत्यवासी क्या आज के पतितों से भी बढ़ कर शिथिल थे ? (नहीं कभी नहीं !)

यदि कोई व्यक्ति निष्पक्ष हो चैत्यवासियों के समय का इतिहास पढ़े तो मालूम होगा कि चैत्यवासियों ने किस प्रकार अनेक कठिनाइयों का सामना करके भी उस आपत समय में जैन धर्म को जीवित ही नहीं किन्तु उसे राष्ट्रीय धर्म बनाये रक्खा था। क्या यह चैत्यवासियों का जैन समाज पर कम उपकार है ? जरा विचार कीजिये।

भगवान् महावीर के स्याद्वाद सिद्धान्त में सब को स्थान मिलता है, जैसे:— कई एक केवल ज्ञान ध्यान में मस्त रहते हैं, तो कई क्रिया पात्र क्रिया की धुन में ही लीन रहते हैं। इसी भांति अनेकों धर्म प्रचारक यदि अपने धर्म प्रचार कार्य को ही अक्षुण्ण बनाये बैठे हैं तो कई विनय भक्ति व्यावच्च करने वाले उसी में मग्न रहते हैं। कहने का मतलब यह है कि जिसकी जिसमें रुचि हो वह उन्हीं कामों को करता है क्योंकि आत्म-कल्याण के एक नहीं

अनेकों साधन हैं। यदि कोई केवल एक क्रिया को ही अपनावें और उसी का आग्रह करे तो उसकी यह भारी भूल है क्योंकि केवल क्रिया का पक्ष सदैव निर्बल रहा है; कारण क्रिया, सदा सर्वदा एक सरीखो ही नहीं रहती है पर वह तो समय २ पर बदलती जाती है। भगवान महावीर के समय वज्रऋषभनाराच संहनन वालों के लिए क्रिया संबंधी जो शास्त्रों में उल्लेख किए गए हैं क्या वे मंद संहनन वालों के लिए उपयुक्त हो सकेंगे? तथा पांचवें आरा के अन्त समय तक जो आराधिक होना बतलाया है क्या उनकी क्रिया और महावीर के समय की क्रिया एक होगी? (नहीं)। क्रिया तो शरीर के संहनन की अपेक्षा रखती है।

अस्तु! जब हम क्रिया उद्धारकों की ओर देखते हैं तो वे किसी कारण को पाकर क्रिया का बहाना मात्र ले पूर्व पक्ष से अलग हो जाते हैं। और भविष्य का जरा भी विचार न कर स्वल्प समय तक क्रिया का कुछ ढोंग जरूर रखते हैं पर आखिर थोड़े समय में वे खुद या उनकी संतान इतनी शिथिल पड़ जाती हैं कि उनकी क्रिया पूर्व पक्ष वालों से भी घृणित हो जाती हैं क्योंकि उनमें एक दो गुण (!) और बढ़ जाते हैं। १—उन पर न तो कोई नायक होता है और २—न उन को आगम वचनों का ही इतना भय रहता है। और कई मताग्रही पक्षान्ध लोग उनके पक्ष में हो जाते हैं फिर सूत्र हो या उत्सूत्र हो पर मतान्धता के कारण वे उन्हें कुछ नहीं कह सकते हैं। अन्ततो गत्वा इन सब का नतीजा यह होता है कि उस कथित क्रिया को दिखाने के लिए बाद में अनेक जाल, माया, प्रपंच, छल, कपट आदि कर अपनी इज्जत रखनी पड़ती है और इस प्रकार कपट आदि का आश्रय

लेने से उन्हें व्रतों का फल तो दूर रहा अपितु समकित से भी हाथ धो बैठना पड़ता है।

हमारा कोई यह सिद्धान्त नहीं कि क्रिया कुछ वस्तु ही नहीं है, पर क्रिया ऐसी की जाय कि जिस में माया, कपट, मिथ्यात्व आदि का अंश मात्र भी न हो और उसे समयानुसार सब सहूलियत से कर सकें। दूसरा यह भी तो एक कारण है कि यदि ज्ञान सहित क्रिया करे तो भी केवल एक व्यक्ति (कर्त्ता) ही अपना कल्याण कर सकता है, परन्तु धर्म प्रचार से तो अनेकों का कल्याण हो सकता है और धर्म प्रचार के लिए केवल क्रिया ही नहीं पर उसके अतिरिक्त अन्यान्य साधनों की भी आवश्यकता रहती है। देखिये ! भगवन् महावीर ने क्रिया कागड, मौन व्रत एवं अध्यात्म से कैवल्य ज्ञान को पैदा कर लिया पर धर्म प्रचार के लिए तो उनको भी समवसरण आदि अष्ट महा प्रतिहार्यादि की अपेक्षा अवश्य रही थी। इसी प्रकार चैत्यवासियों के समय जैन धर्म राष्ट्र-धर्म होने से उसको कुछ समयाऽनुसार आडम्बरों की भी आवश्यकता हुई हो और उन्होंने ऐसा किया भी हो तो इसमें बुरा क्या था ? आज तो बिना कुछ जरूरत के और अयोग्य होते हुए भी आडम्बरों के लिए लड़ झगड़ शासन को उन्मूल किया जा रहा है। यदि, हम लोग आज जैसे चैत्यवासियों के लिए कहते हैं वास्तव में वे वैसे ही होते तो उनका प्रकाण्ड प्रभाव राजा महाराजाओं पर शायद ही पड़ सकता ? किन्तु जब चैत्यवासियों ने अपने ही शासन कालमें करीब १०० *राजाओं को एवं लाखों करोड़ों अजैनों को जैन-धर्म में दीक्षित किया तब नामधारी क्रिया

* देखो मेरा लिखा 'प्राचीन इतिहास संग्रह' भाग दूसरा।

उद्धारकों के विषय में ऐसा एक भी उदाहरण उपलब्ध नहीं होता है। इतना ही क्यों पर यदि सच पूछा जाय तो नामधारी क्रिया उद्धारकों ने ही चैत्यवासियों को निर्मूल करने में अपना पूर्ण सहयोग दे शासन को बड़ी भारी हानी पहुँचाई है जितनी कि स्वयं चैत्यवासियों ने भी नहीं पहुँचाई। मेरे इस कथन का कोई व्यक्ति उल्टा अर्थ कर यह न समझ ले कि चैत्यवास ही अच्छा और क्रिया उद्धार करना बुरा है किन्तु हाँ किसी आपत्ति के समय यदि चैत्यवास के विकृत रूप से शासन को कुछ हानि, भी हुई हो तो उसे सुधारना चाहिये न कि शासन के स्थंभ भूत चैत्यवासियों को ही उखाड़ फेंकना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से तो शासन का कोई हित नहीं प्रत्युत अहित ही सिद्ध हुआ है। जैसे एक वृक्ष अनेक प्राणियों का आधार भूत है परन्तु कोई दिन प्रतिकूल हवा पानी के कारण उनके बुरे फलों से कोई हानि भी हो गई हो तो क्या उस वृक्ष को ही काट फेंकने में बुद्धि-मत्ता है ? (नहीं), क्योंकि वृक्ष निर्मूल होने से अब कभी उस से सुफलों की आशा नहीं रहेगी, यही हाल चैत्यवासियोंको निर्मूल करने से हुआ है और आज हम उस स्थिति पर आ पहुँचे हैं कि हमारा कहीं स्थान भी नहीं है।

चैत्यवासी शासन रक्षक थे उस समय का इतिहास देखने से ज्ञात होता है कि उन्होंने हजारों कठिनाईयों को सहन करते हुए भी जैन-धर्म को अपने कंधों पर सुरक्षित रखा। देखिये—उस समय एक तो बारंबार दुष्काल का पड़ना। दूसरा अनेक विधर्मियों का जैन-धर्म पर सङ्गठित आक्रमण करना और उन्हों को दबाने के लिए उन्हों के सामने मोर्चा बाँध खड़े रहना, इस हालत में भी लाखों करोड़ों

अजैनों को जैन बनाना व अनेक राजा महाराजाओं को जैन धर्म के भक्त बनाना, अनेक अपूर्व ग्रंथों का निर्माण करवाना, जैन मंदिर मूर्त्तियों की प्रतिष्ठा करवाना और नये-नये नामधारी क्रिया उद्धारकों के सामने डट के खड़ा रहना क्या यह चैत्यवासियों की शासन के प्रति कम सेवा कही जा सकती है? क्या चैत्यवासियों के अनन्तर ऐसी दृढ़ सेवा अन्य किसी ने कर के बताई है? (किसी ने नहीं.) उन्होंने तो उल्टा अपने पैरों तले ही कुल्हाड़ा मारा है इसके अतिरिक्त कोई भी कार्य नहीं किया।

चैत्यवास करने में तो उन दीर्घ दृष्टि वालों की शुभ भावना और उज्ज्वल उद्देश्य ही कारण भूत थे परन्तु बाद में आपत् काल से उस में विकृति भी हो गई तो भी वे इतने पतित नहीं हुए थे कि क्रिया-उद्धारकों को "बालों के बदले शिर काट डालने की धृष्टता करनी पड़ी।"

चैत्यवासियों के साथ में एक समूह और भी था जिसका नाम था "निगम वादी" जैसे आगम वादी आगमों को मानते थे वैसे ही निगमवादी निगमों को मानते थे, उन निगमों की संख्या* ३६ थी और वे मन्दिर मूर्त्तियों की अञ्जन शलाका प्रतिष्ठा आदि धर्म कार्य, और जैनों के १६ संस्कार तथा और सब कार्य करवाते थे, पर क्रिया उद्धारकों की क्रूर दृष्टि से वे भी बच नहीं सके। इसका फल यह हुआ कि धार्मिक कार्य तो आगमवादियों को हाथ में लेने पड़े जिनको कि वे सावद्य बतला कर उनसे पहिले दूर रहते थे अर्थात् सावद्य कार्यों में आदेश नहीं करते थे। और जैन गृहस्थों के सब संस्कार विधर्मी ब्राह्मणों के हाथों में चले

---

* देखो ही० हं० सं० जैन धर्म का प्राचीन इतिहास भाग दूसरा।

गए जैसे कि आज जैनों के यहाँ सब संस्कार विधर्मियों के विधि विधान से ही होते हैं, तथा जैनों के घरों में व्रत, व्रतोलिया, पर्व, त्यौहार वगैरा सब के सब विधर्मियों के ही होते हैं। यह सब क्रिया उद्धारकों की क्रूर कृपा का ही फल है।

क्रिया-उद्धार वही कर सकता है, जिसमें बिगड़ी को सुधारने की योग्यता हो। जैसे भगवान् महावीर ने क्रिया उद्धार किया उन्होंने चतुर्विध संघ की स्थापना की। यद्यपि उनके पूर्व प्रभु पार्श्वनाथ के हजारों सन्तानिये विद्यमान थे और वे पार्श्वनाथ के शासन की क्रिया करते थे, पर भगवान् महावीर ने उन से कई कठिन नये नियम बना कर भी एक शब्द ऐसा उच्चारण नहीं किया कि जिससे पार्श्वनाथ के सन्तानियों का अपमान हो या उनके दिल को किसी प्रकार की चोट पहुँचे। इस उदारता का फल यह हुआ कि बिना किसी विवाद के पार्श्वनाथ के सन्तानिये एक के पीछे एक अर्थात् सब के सब महावीर शासन में आ कर उनकी क्रिया को करने लग गये और वे उभय समुदाय एक हो कर शासन की श्रीवृद्धि करने लगे।

चैत्यवासियों के समय जो संगठन था उसके टुकड़े २ कर समाज में भेद डालने वाले जितने क्रिया उद्धारक हुए, उनमें एक में भी ऐसी शक्ति नहीं थी कि वे उस समय की बिगड़ी दशा का सुधार करते या चैत्यवासियों को समझा बुझा कर उनको साथ में ले कर क्रिया उद्धार करते। या किसी अन्य धर्मियों के साथ वाद-विवाद करके उन अजैनों को जैन बनाते, पर इतनी तो योग्यता ही कहां थी? इन्होंने तो शासन का जो कुछ मसाला जैसे— "आगम या परम्परा के गूढ़ रहस्य, कल्प, मंत्र, तंत्र, यंत्र, आदि

अलौकिक विद्याएं, जो सब घर धनियों (चैत्यवासियों) के पास में थीं उन सबको छोड़ उनकी परवाह न करते हुए केवल झोली झण्डा हाथ में ले कर क्रिया उद्धार के नाम से घर बाहिर निकलना उचित समझा। पर ऐसा करके भी वे कुछ कर नहीं सके केवल द्वेष वश जिस घर से निकले थे उनकी निंदा मात्र कर उनको निर्मूल करने का अथक परिश्रम किया और इसके लिए झूठे सच्चे अनेकों प्रपंच रचे, संघ में फूट डाली; परन्तु चैत्यवासी भी किसी ऐसे-तैसे माली के बाग़ की मूली नहीं थे जिनको कि ये नामधारी क्रिया उद्धारक सहसा उखाड़ दूर फेंक देते। उस समय ये क्रियोद्धारक तो हिताऽहित की कर्तव्य बुद्धि को भी भूल गए थे, जिससे इन्होंने इतना ही नहीं सोचा कि जिस मूल से हम पैदा हुए हैं और अब उसी मूल को हम उच्छेदन करना चाहते हैं तो ऐसा करने से हम भविष्य में दुःखी होंगे या सुखी? हमारी उन्नति होगी या अवनति? यह बात केवल उन चैत्यवासियों के समकालीन क्रिया उद्धारकों के लिए ही नहीं थी पर हम तो जितने इस कोटि के क्रिया उद्धारकों को देखते हैं उन सबके लिए भी यही बात है। और इस कुप्रवृत्ति से उनका भी पतन ही हुआ है न कि उदय जैसे कि:—

(१) चैत्यवासियों के संगठन को छिन्न-भिन्न करने वाले क्रिया उद्धारक आगे चल कर कई नामधारी गच्छों में विभक्त हो कर आपस में झगड़ने लगे उस समय भी चैत्यवासियों का सम्मान बड़े बड़े राजा महाराजा एवं समूचा जैन समाज करता था। परन्तु क्रिया उद्धारकों का सम्मान, उनके हिस्से में जितने भद्रिक आये वे ही करते थे। आगे चल कर वे क्रिया उद्धारक भी

जब रूपान्तरित हो चैत्यवासी ही नहीं अपितु उनसे भी आगे दो कदम बढ़ गए। परन्तु इतनी बात जरूर खुशी की थी कि वे मंदिर मूर्त्तियों और पंचांगी सहित आगम मानने में सहमत रहे कि अलग-अलग हो जाने पर भी पूजा में, मंदिर में, वरघोड़ा में, जलयात्रा में, प्रतिष्ठा में और तीर्थ यात्रार्थ संघ में वे आपस में मिल भेट सकते थे। पर संघ में फूट डाल अलग अखाड़ा जमाने की प्रवृत्ति बहुत बुरी थी, इससे आगे चल कर और भी बढ़ के नुक़सान हुआ क्योंकि यह मार्ग ही स्वच्छन्दता का था इसका अवलंबन आगे चल कर योग्य, अयोग्य, पठित, अपठित, लायक, नालायक, सभी कर सकते थे और ऐसा हुआ भी है जैसे कि—

(२) लौंकाशाह ❋ आदि कई गृहस्थ लोगों ने भी अपने अपमान के कारण स्वयं कुछ योग्य न होते हुए भी अनाधिकार चेष्टा कर क्रिया उद्धारक के नाम पर जैन शासन में फूट डाल अपनी डेढ़ चावल की खिचड़ी अलग ही पकाई पर इनके पास न तो ज्ञान था और न क्रिया थी तथा न थी शासन की परम्परा, इतना होने पर भी उन्होंने जैनागम जैन मन्दिर मूर्त्तियों से खिलाफ़ होकर मिथ्या प्रचार करना शुरू किया और अज्ञ लोगोंने ऐसे शासन भंजकों का भी साथ दे दिया, परन्तु आखिर रेती में नाव कहाँ तक चले, अतः इस नये पंथ को हुए पूरे १०० वर्ष भी नहीं हुए थे कि इसके अन्दर भी वही शिथिलता आ घुसी कि जिस से एक लवजी नामक † व्यक्ति ने डोरा डाल मुँह पर मुँहपत्ती बाँध

❋ वि. सं. १५०८ में लौंकाशाह ने अपना लौंकामत चलाया। वि. सं. १५२४ में कडुआशाह ने कडुआमत चलाया।

† वि. सं १७०८ में लुंपकयति लवजी ने मुँह पर कपड़े की पट्टी बांध कर ढूंढिया धर्म चलाया—

अपना एक अलग ही पंथ चलाया अनन्तर इसमें से भी अनेक मत, पंथ, टोला, सिगाड़ आदि निकल-निकल के वह भी छिन्न भिन्न हो गया ‡।

(३) जिन चैत्यवासियों से अलग हो कई लोगों ने क्रिया उद्धार किया था आखिर उनका भी पतन हो गया और उनमें श्रीपूज्य यति आदि हो गए किन्तु इन लोगों ने तो फिर भी पूर्वाचार्यों का उपकार माना और उनके ग्रंथों का बहुत मान किया तथा क्रिया से शिथिल हो जाने पर भी इन यति आदिकों ने कई राजा महाराजाओं पर अपना प्रभाव डाला, तथा उन राजा बादशाहों ने भी इन श्री पूज्य यतियों आदिकों का पूरा आदर मान किया और इस कारण से जैन धर्म जगत् में फिर चमकने लगा।

परन्तु मैं ऊपर लिख आया हूँ कि क्रिया उद्धारकों ने शासन में एक ऐसा रोग फैला दिया था कि जिससे स्वच्छंदता पूर्वक हर एक व्यक्ति अपने पूर्व मार्ग को छोड़ नये मार्ग का निर्माण कर सकता था। जब इन श्री पूज्यों और यतियों का ठीक संगठन जम गया था तो इनमें से एक पन्यास सत्यविजय ने फिर से क्रिया उद्धार का झंडा उठाया। पं० सत्यविजय में इतनी योग्यता तो अवश्य थी कि वह न तो अपने गुरु से विमुख हुए और न कभी उनके अवगुण वाद कहे फिर भी इसका नतीजा तो जो पहिले वालों का हुआ था वही हुआ। वे नहीं तो उनके साथियों ने एवं संतान ने उन्ही श्रीपूज्य और यतियों के सङ्गठन को छिन्न भिन्न कर डाला। शेष थोड़ा बहुत शासन का मशाला जो उन श्री

‡ बाद में बीजामती गुलाब पंथी अजीवपन्थी आदि वि. सं. १८१५ में ढूंढिया भिखमजी ने तेरह पन्थी मत निकाला।

पूज्यों के पास था वह उनके ही पास रह गया। और उन क्रिया उद्धारकों के हाथ केवल समाज को आपस में लड़ा झगड़ा कर अपनी उदर पूरणा करने मात्र की योग्यता रह गई। यदि समाज शुरू से ही श्रीपूज्यों आदि को शिथल न होने देती, उन पर अंकुश रखती या उनको ठीक मार्ग पर लाकर श्रीपूज्यों का आदर करती तो क्या शत्रुंजय जैसे एक प्रभावशाली तीर्थ की यात्रा करने वालों को ६००००) वार्षिक दंड का देना पड़ता ? (कभी नहीं) तथा क्या विधर्मी लोग जैन तीर्थङ्करों के लिए वित्सर भावा में असभ्यता पूर्वक आलोचना कर सकते ? (नहीं) पर विचारे क्रिया उद्धारक क्या करें क्योंकि अब तो "नाई की जान में सब के सब ठाकुर" इस कहावत को चरितार्थ करते हुए सभी महेन्द्र बन बैठे हैं। यदि आपस में लड़ने झगड़ने का काम पड़े तो रे रे तूँ तूँ करने में सभी बड़े शूरवीर हैं।

जिस जैन धर्म का खास उद्देश्य आत्म कल्याण का था और इसके लिए ज्ञान, ध्यान, क्षमा, दम, शील, संतोष और निःस्पृहता थी उनका तो आज दर्शन होना भी दुष्कर हो गया है और उनके बदले फूट, कुसंम्य, क्लेश, कदाग्रह, माया, गूढ़ माया, छल, प्रपंच, मिथ्यामान, बड़ाई और तृष्णा आदि के ही यत्र तत्र दर्शन होते हैं।

श्रीपूज्य लोग सरल-स्वभाव❀ होने के कारण क्रिया में शिथिल होंगे और थोड़ा बहुत परिग्रह भी रखते होंगे, परन्तु सङ्घ यदि उनके अनुकूल रह कर सुधारने की कोशिश करता तो ये

❀ यह वर्तमान श्री पूज्यों के लिए नहीं पर पहले समय के श्रीपूज्य के लिए है।

कैसी कीमती शासन की सेवा करते ? खैर सङ्घ ने जिन लोगों पर शासन सेवा का भार रख उनके बहकावट में आकर श्रीपूज्यों के अस्तित्व को तो नष्ट कर दिया, पर अब वे क्रिया उद्धारकों की सन्तानें क्या कर रही हैं उनको तो जरा देखें।

(१) कई सूरीश्वर तो अपने नाम के साथ विशेषणों की सृष्टि रचने में लग रहे हैं। वे विशेषण भी सामान्य नहीं किन्तु जो पहिले कभी तीर्थङ्कर गणधरों को भी नहीं लगे थे उन्हें अपने नाम के साथ जोड़ रहे हैं।

(२) कई अपनी नामवरी के लिए समाज को जरूरत न होने पर भी पत्थर कुटाने में तथा मन्दिर बनवाने में समाज के लाखों रुपयों का व्यय कर बेचारी अल्प संख्यक एवं प्रायः निर्धन कौम पर भविष्य में बड़ा भारी असह्य टैक्स लगाने का प्रयत्न कर रहे हैं।

(३) कई लोग अपनी जीविताऽवस्था में ही बड़े-बड़े मूल्य वाली मूर्त्तिएँ बनवा के उनको पुजाने की धुन में मस्त हैं। क्योंकि उनको विश्वास है कि हमने जैन जाति को डुबाने के अलावा कोई भी अच्छा काम नहीं किया है इस हालत में हमारे बाद हमारी मूर्त्तिएँ बनवा के वे पूजेंगे या नहीं ? इससे बहतर अच्छा है कि हम हमारे हाथों से ही मूर्त्तिएँ बनवा कर स्थापन करवा उनकी पूजा अपनी आँखों से देखलें। पर उनको यह खबर नहीं है कि पिछले लोग ऐसी २ मूर्त्तियों को उठा कर खारे समुद्र में फेंक देंगे।

(४) कई महात्मा कल्प सूत्र, से आठ गुना अपना जीवन चरित्र लिखवाने में अनेकों पंडितों को पास में बिठला कर झूंठी सच्ची बातों की पूर्त्ति कर रहे हैं।

(५) कई महा पुरुष (।) अपने शिष्य चाहे योग्य हो या अयोग्य, सदाचारी हो या व्यभिचारी, पठित हो या अपठित हो पर उनको आचार्य आदि पदवियों से विभूषित कर अपने आपको इतने आचार्यों का मालिक बनने के मनोरथ को पूर्ण करते हैं।

(६) कई लोग एक दूसरे के अवगुण वाद लिखवाने और छपवाने में ही खूब दिल खोल प्रयत्न कर रहे हैं।

(७) कई इस बेकारी और आर्थिक संकट के समय भी अपनी मौज, शौक़ और खाने पीने में विचारे गृहस्थों के घरों को बर्बाद करते हैं। उनको यह परवाह नहीं है कि कई जैनों को दोनों वक्त पूरा अन्न भी मिलता है या नहीं पर उनको तो स्वयं के लिए सुबह चाह, दूध, घृत, खाखरा, दोपहर को सेव, संतरा आदि फ्रूट और शाम को दाल भात चाहिए।

(८) इन निःस्पृही निग्रंथों (।) का यदि संग्रह कोष जाकर देखा जाय तो आश्चर्य हुए बिना कदापि नहीं रहेगा क्योंकि इतना विशाल संग्रह शायद साधारण गृहस्थों के भी नहीं मिलता है। क्योंकि इनको कोई कमाई करने को तो कहीं जाना है नहीं, केवल "धर्म लाभ" कहने मात्र से ही सर्व पदार्थ मिल जाय तो फिर कमी क्यों रखी जाय।

इत्यादि, इस कर्म कहानी को कहाँ तक लिखा जाय। हजारों बार ललकार-फटकार लगाई गई परन्तु इन मठपतियों से मठ नहीं छूटता है तथा एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में जाने की भी हिम्मत नहीं होती है यही कारण है कि ऐसे पतितों से समाज शख्त विरोध करता है और इनसे अब धर्म की उन्नति होने के लिए समाज हाथ धो बैठा है अर्थात् इन मायावी पुरुषों से धर्मो-

न्नति की आशा छोड़ दी है। अब तो कोई अधिष्ठायक देव ही इन मृत प्राय आत्माओं में कोई नये खून का संचार कर दे और ये गुर्जर प्रान्त एवं उपाश्रय की व्यवस्था को सर्प कञ्चुकी के सदृश छोड़ कमर कस लें तो बात दूसरी है और इस प्रकार करके यदि ये लोग शासन सेवा कर यश कमाना चाहें तो इस कार्य में इन्हें अच्छी सफलता मिल सकती है। क्यों कि इस वक्त तक तो उन्नति के सब साधन बिलकुल लुप्त नहीं हो गए हैं अपितु गुप्त रूप से संप्राप्त हैं।

हम देखते हैं कि अब अधिष्ठायक देव कब जागृत होते हैं। हमने यह लेख समाज की दुर्दशा से संतप्त हो अपने धधकते अन्तः करण की प्रेरणा से लिखा है न कि व्यक्तिगत राग द्वेष के कारण। क्योंकि मेरी हार्दिक भावना सदा शासन को समुन्नत देखने की रहती है अतः यदि इस लेख से किसी के दिल को ठेस पहुँचे तो हम उनसे एक बार नहीं सहस्रों बार क्षमा के प्रार्थी हैं।

इस लेख में हमने सुविहित्त आचार्यों, चैत्यवासी आचार्यों और क्रियोद्धारक आचार्यों के विषय में जो कुछ लिखा है वह मुख्यता को लक्ष्य में रख कर ही लिखा है क्योंकि गौणता में इससे अन्य प्रकार से भी होना संभव है जैसे कि:—"सुविहितों के समय कई व्यक्ति शिथिल होंगे? चैत्यवासियों के समय सबके सब शिथिलाचारी नहीं पर अनेकों आत्मार्थी क्रिया करने वाले भी होंगे और क्रिया उद्धारकों के समय भी कई सच्चे दिल से शासन की सेवा करने वाले होंगे और अब भी कई ऐसे क्रिया उद्धारक महानुभाव होंगे कि वे अपनी आत्मा को एकान्त में

रख कर शान्ति के साथ शासन सेवा या स्व-पर-कल्याण का संपादन करते होंगे। कारण एकान्त वाद तो किसी समय हो ही नहीं सकता है पर जिस बात को लक्ष्य में रख कर लेख लिखा जाता है मुख्यता में वही बात उस लेख में संनिविष्ट हो जाया करती है।

अन्त में हम फिर यह निवेदन करते हुए क्षमा याचना करते हैं कि यह लेख हमने न तो किसी को नीचा दिखाने की नियत से लिखा है और न हम खुद ही कुछ करने काबिल हैं कि जो ऐसे लिख कर अपनी योग्यता दिखावे। परन्तु हम जब कभी एकान्त निवृत्ति स्थान में बैठते हैं और शासन की पतित दशा का सिंहाऽव लोकन करते हैं तब चित्त अत्यन्त व्याकुल हो जाता है कि यदि मेरे पास कोई साधन होता तो मैं यथासाध्य शासन की सेवा करता पर क्या किया जाया जहाँ करने की इच्छा रहती है वहां तो साधनों का अभाव है और जिनके पास सब तरह के साधन है वहां कुछ करने को नहीं है। इस हालत में अपनी आत्म के उज्वल विचारों को सबके समक्ष रखने को केवल लेखनी द्वारा लिख कर कुछ कुछ समय के लए अपने संतप्त चित्त को शान्त किया जाता है इसके अतिरिक्त और कोई भी उपाय नहीं है।

शेष में हम पुनः उन महानुभावों से जिनके कि आराम प्रिय आत्माओं पर इस उद्बोधक लेखसे ठेस पहुँची हो उनसे क्षमा भिक्षा मांग अपने इस लेख को समाप्त करते हैं।

ता० १-५-३७ ई०
प्राचीन तीर्थ
श्रीकापरड़ाजी

संघ चरणरंज
ज्ञानसुन्दर

बनारस में

चांदी सोने की चीजों का कारखाना

जिसमें कि हर प्रकार का चांदी सोने का सामान जैसे- कुर्सी, पलङ्ग, हौदा, गाड़ी, रथ, नालकी, वैदी, चौदह सिंघासन, बिजली का झाड़, झूलन तथा हाथी व घोड़े का आसा, सोटा, बल्लम, छड़ी वगैरह, गुलाबपास, अ फूलदान, पानदान, थाली, लोटा, गिलास इत्यादि हर फर्नीचर तैयार रहता है व ऑर्डर द्वारा ठीक समय प किया जाता है।

उचित मूल्य और बढ़िया का

इसके अलावा बनारसी साड़ियां, लहंगा, दुपट्टा, साफा, खिनखाप, पोत, पातल, खंड और काशी सिल्क के कपड़े भी थोक तैयार रहते हैं—एक दफे ऑर्डर देकर अवश्य खात्री कीजिये।

कीजि

ालाल जैन

ा—बनारस सिटी

.जिये।

ा—ब Benares City.

Be

आदर्श प्रिंटिंग प्रेस, कैसरगंज अजमेर.